

जमीन छीन लीजिए पर संवाद तो कीजिए

भारतीय जनता पार्टी की सरकार ने आते ही जिस तरह भूमि अधिग्रहण को लेकर एक अध्यादेश प्रस्तुत कर स्वयं को विवादों में डाल दिया है, वह बात चौंकाने वाली है। यहां तक कि भाजपा और संघ परिवार के तमाम संगठन भी इस बात को समझ पाने में असफल हैं कि जिस कानून को लम्बी चर्चा और विवादों के बाद सबकी सहमति से 2013 में पास किया गया, उस पर बिना किसी संवाद के एक नया अध्यादेश और फिर कानून लाने की जरूरत क्या थी? इस पूरे प्रसंग में साफ दिखता है कि केन्द्र सरकार के अलावा कोई भी पक्ष इस विधेयक के साथ नहीं है। हिन्दुस्तान के विकास के सपनों के साथ सत्ता में आई भारतीय जनता पार्टी की सरकार से इतनी तो उम्मीद की ही जाती है कि वह बहुमत के अंकार के बजाय जनमत के सम्मान का रास्ता अख्तियार करे। प्रधानमंत्री और उनके मंत्री इस मामले में एक रणनीतिक चूक का शिकार हुए हैं। जिसके चलते पूरे देश में भ्रम, निराशा और आक्रोश का वातावरण बन गया है। शायद सरकार के आकलन में कुछ भूल थी जिसके चलते किसी स्तर पर भी संवाद किए बिना इस बने-बनाए कानून से छेड़खानी की गई।

खाली जमीनों का कीजिए उपयोग:

केंद्र सरकार इस विषय में संवादहीनता के आरोप से नहीं बच सकती, भले ही वह सत्ता की ताकत और अपने मैनेजरो के कुशल प्रबंधन से विधेयक को पास भी करा ले जाए। जाहिर तौर पर इस विधेयक का विरोध करने वाले लोग विकास विरोधी ही कहे जाएंगे और सरकार उन्हें विकास के रास्ते में रोड़े अटकाने वाले पत्थरों के रूप में ही आरोपित करना चाहेगी। लेकिन जहां छह करोड़ परिवारों के पास आज भी इंच भर जमीन नहीं है, वहां ऐसी बातें चिंता में डालती हैं। हमें ध्यान रखना चाहिए कि इस देश में लड़ा गया सबसे बड़ा युद्ध महाभारत, दुर्योधन के द्वारा पांडवों को पांच गांव भी न देने की महाजिद के चलते शुरू हुआ था। दुर्योधन अपनी सत्ता की अकड़ में श्री कृष्ण से कहता है कि “हे केशव मैं युद्ध के बिना सूर्य की नोक के बराबर भी जमीन नहीं दूंगा।” भारत की सरकार 1894 के अंग्रेजों के काले कानून को 2013 में बदल पाई और अब फिर वह इतिहास को पीछे ले जाने की तैयारी है। देश में आज भी तमाम उद्योगों के नाम पर आरक्षित 50 हजार एकड़ भूमि खाली पड़ी है। कुल कृषि योग्य भूमि का 20 प्रतिशत बंजर पड़ी है। इन जमीनों के बजाय नई सरकार बहुउपयोगी और सिंचित भूमि का अधिग्रहण करने को लालायित है। यहां यह सवाल भी उठता है कि क्या किसानों के हित और देश के हित अलग-अलग हैं? यह सच्चाई सबको पता है कि किस तरह सार्वजनिक कामों के लिए जमीनों का अधिग्रहण कर उनका लैंड यूज चेंज किया जाता है। 2010-11 में जो सवाल उठे थे, वे आज भी जिंदा हैं। सिंगूर, नंदीग्राम और भट्टापारसाल से लेकर मथुरा तक ये कहानियां बिखरी पड़ी हैं। सरकार ने हालात न सम्भाले तो टप्पल किसान आंदोलन जैसी स्थितियां दोबारा लौट सकती हैं।

इतनी हड़बड़ी में क्यों है सरकार:

वर्ष 2013 में बने भूमि अधिग्रहण कानून के समय श्रीमती सुषमा स्वराज, श्री विनय कटियार और रविशंकर प्रसाद ने संसद में जो कुछ कहा था, वे भाषण फिर से सुने जाने चाहिए और भाजपा से पूछा जाना चाहिए कि उनके सत्ता में रहने के और विपक्ष में रहने के आचरण में इतना द्वंद्व क्यों है? जिस कानून को बने साल भर नहीं बीता उस पर अध्यादेश और उसके बाद एक नया कानून लाने की तैयारी

सरकार की विश्वसनीयता और हड़बड़ी पर सवाल खड़े करती है। एक साल के भीतर ही नया कानून लाने की जरूरत पर सवाल उठ रहे हैं। सरकार के प्रबंधकों को इस व्यापक विरोध की आशंका जरूर रही होगी। बावजूद इसके किसानों को साथ लेने की कोशिश क्यों नहीं की गई? यह एक बड़ा सवाल है। सरकार का कहना है कि उसने कई गैर-भाजपा राज्यों के सुझावों पर बदलाव करते हुए यह अध्यादेश जारी किया है। सवाल यह उठता है कि भारतीय जनता पार्टी की सरकार अपने विरोधी राजनीतिक दलों के मंत्रियों और मुख्यमंत्रियों की सलाह पर इतनी मेहरबान क्यों है कि उसे अपनी छवि की भी चिंता नहीं है। दिल्ली का चुनाव इन्हीं अफवाहों और भ्रमों के बीच हारने के बावजूद बीजेपी खुद को कॉरपोरेट और उद्योगपतियों के समर्थक तथा किसानों और आम आदमियों के विरोधी के रूप में स्थापित क्यों करना चाहती है? यह आश्चर्य ही है कि लोगों को भरोसे में लिए बिना कोई राजनीतिक दल अपनी छवि को भी दांव पर लगाकर विकास की राजनीति करना चाहे। ऐसे विकास के मायने क्या हैं, जिसका लोकमत विरोधी हो? जिन कांग्रेसी और अन्य दलों के मित्रों के सुझाव पर भाजपा सरकार यह अध्यादेश लाई है, वे सड़क पर सरकार के खिलाफ आंदोलन कर रहे हैं।

भूमि अधिग्रहण तो ठीक भूमि-वितरण पर भी सोचिए:

किसी भी भूमि अधिग्रहण के पहले, जिस सार्वजनिक सर्वेक्षण की वकालत पुराना कानून करता है, उसे हटाना भी खतरनाक है। इस कानून की स्टैंडिंग कमेटी की चेयरमैन रहीं श्रीमती सुमित्रा महाजन आज लोकसभा की अध्यक्ष हैं। जाहिर तौर पर 2013 में बने कानून के प्रभावों का साल-दो साल अध्ययन करने के बाद सरकार किसी नये कानून की तरफ लोगों से व्यापक विमर्श के बाद आगे बढ़ती तो कितना अच्छा होता। इस देश में भूमि अधिग्रहण की घटनाएं अनेक बार हुई हैं, विकास के नाम पर लगभग छह करोड़ लोगों का विस्थापन आजादी के बाद हुआ है। लेकिन, आप देखें तो केवल 17 प्रतिशत लोगों का हमारी सरकारें पुनर्वास कर सकी हैं। भाखड़ा नांगल बांध से लेकर नर्मदा के विस्थापित आज भी अपने बुनियादी अधिकारों के लिए मोहताज हैं। आजादी के बाद ऐसी स्थितियां हमें बताती हैं कि आज भी आखिरी आदमी सत्ताधीशों की चिंताओं से बहुत दूर है। देश में भूमिहीनों की एक बड़ी संख्या के बाद भी भूमि सुधार की दिशा में सरकारों ने बहुत कम काम किया है। सरकारें भूमि अधिग्रहण पर बातें करती हैं लेकिन भूमिहीनों को भूमि वितरण के सवाल पर खामोशी ओढ़ लेती हैं। जनहित क्या सिर्फ अमीरों को जमीन देना है या गरीबों को जमीनों से महरूम रखना? संसद में एक समय श्री विनय कटियार और श्री रविशंकर प्रसाद ने कहा था कि 70 या 80 नहीं बल्कि 100 प्रतिशत किसानों की सहमति होने पर ही भूमि का अधिग्रहण किया जाना चाहिए। क्या राजनीति सत्ता में होने की अलग है और विपक्ष में होने की अलग?

क्या सरकारें ही देशहित में सोचती हैं:

किसानों की आत्महत्याओं की निरंतर खबरों के बीच सरकार बता रही है कि कब, किसकी सरकार के समय कितने अध्यादेश आए थे। आखिर इस तरह के कुतर्कों का मतलब क्या है? आप हजार अध्यादेश लाएं वह एक संवैधानिक व्यवस्था है, किंतु क्या ये अध्यादेश बहुत जरूरी था, क्या इसके पक्ष में जनमत है? इन प्रश्नों का विचार जरूर करना चाहिए। या फिर जनमत बनाने की ओर बढ़ना चाहिए। केंद्र के एक माननीय मंत्री कहते हैं कि “हमारा बहुमत है, हम कानून पास करेंगे।” सत्ता की ऐसी भाषा न तो लोकतांत्रिक है, न ही स्वीकार्य। इसी तरह की देहभाषा और वाचालता जब यूपीए के मंत्री दिखाते थे, तो

देश ने उसे दर्ज किया और समय पर प्रतिक्रिया भी की। हमारे वर्तमान राष्ट्रपति स्वयं ही एक अनुभवी राजनेता हैं। वे केंद्र की बहुमत प्राप्त सरकार को यह आगाह कर चुके हैं कि वह अध्यादेशों से बचे और लोगों की सहमति से कानून बनाए। बेहतर होगा कि सरकार इस पूरे मामले पर लोगों से सुझाव मांगे क्योंकि इस सरकार ने वोट अच्छे दिनों के लिए मांगे थे। अगर सरकार के किसी कदम से समाज के किसी वर्ग में यह आशंकाएं भी पैदा हो रही हैं कि वह उनके खिलाफ कानून बना रही है तो प्रधानमंत्री की यह जिम्मेदारी है कि वे अपने 'मन की बात' लोगों से सीधे करें, न कि संसद के फ्लोर मैनेजर के भरोसे देश को छोड़ दें। यह कैसे माना जा सकता है कि सरकारें ही राष्ट्रहित में सोचती हैं? अगर ऐसा होता तो सरकारों के खिलाफ इतने बड़े-बड़े आंदोलन न खड़े होते और सरकारें न बदलतीं।

आज देश में लगभग 350 जगहों पर भूमि को लेकर टकराव दिख रहे हैं। एक जमाने में भाजपा ने खुद स्पेशल एकाॅनॉमिक जोन का विरोध किया था। सेज के नाम पर लगभग सात राज्यों में 38 हजार 245 हेक्टेयर जमीन सरकार ने किसानों से ली, उनमें से ज्यादातर खाली पड़ी हैं। पुनर्वास और उजड़ते किसानों की चिंताओं के बावजूद सरकारें एक सरीखा चरित्र अख्तियार कर चुकी हैं। जिनमें अच्छे दिनों की उम्मीदें दम तोड़ रही हैं। 1947 में जहां 20 करोड़ लोग खेती पर निर्भर थे, वहीं आज 70 करोड़ लोग खेती पर निर्भर हैं। ऐसे में अगर शरद यादव राज्यसभा में यह कहते हैं कि "खेती से बड़ा कोई उद्योग नहीं है" तो हमें इस बात पर विवाद नहीं करना चाहिए। बेहतर होगा कि हमारे लोकप्रिय प्रधानमंत्री स्वयं आगे आकर देश के किसानों और आमजन की शंकाओं का समाधान करें। देश उनके मुंह से सुनना चाहता है कि आखिर यह कानून कैसे लोगों का उद्धार करेगा? वे कहेंगे तो लोग जमीनें छोड़ सकते हैं, लेकिन शर्त है कि सरकार संवाद तो करे।

(लेखक राजनीतिक विश्लेषक हैं)

-संजय द्विवेदी,

अध्यक्ष: जनसंचार विभाग,

माखनलाल चतुर्वेदी पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय,

प्रेस काम्पलेक्स, एमपी नगर, भोपाल-462011 (मप्र)

मोबाइल: 09893598888